विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
प्राचीन भारतीय मुद्रा पर विदेशी प्रभाव
रामकुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4
विदेशी भाषाओं में चरकसंहिता
जयप्रकाश परिहार

पृष्ठ क्र. 5-6
ऋग्वेदयुगीन धातु कार्य
सनतकुमार वर्मा

पृष्ठ क्र. 7
वैश्विक सभ्यता और मानव का अस्तित्व
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 8
भारतीय गणित और ज्योतिष के सूर्य भास्कराचार्य
मिथिलेश यादव

प्राचीन भारतीय मुद्रा पर विदेशी प्रभाव

रामकुमार शर्मा

मुद्रा शास्त्र के क्षेत्र में अग्रणी विल्सन तथा जेम्स प्रिंसेप का मत था कि भारत में यूनानी आक्रमण के पश्चात् ही मुद्राएँ प्रचलित की गई। विल्सन का मत है कि भारतीयों ने उनके पड़ोसी बैक्ट्रिया के लोगों से रोम से व्यापार सम्बन्ध होने के कारण मुद्रा प्रयोग सीखा। उनका एक मात्र आधार औदुम्बर मुद्रा तथा यूनानी मुद्रा की समानता थी, परन्तु यूनानी शासक अपलदत की मुद्रा गोलाकार है तथा पूरो भाग पर हस्ति एवं वाम भाग पर वृषभ की आकृति का अंकन है, जबकि आहत मुद्राएँ विभिन्न आकार व चिन्हों से युक्त है। कालान्तर में प्रिंसेप ने अपने विचार में परिवर्तन कर रखा कि इन मुद्राओं की निर्मिति स्वदेशीय थी। प्राचीन भारतीय मुद्रा पर किसी भी प्रकार का यूनानी प्रभाव प्रतीत नहीं होता। इस संदर्भ में भीरमांड टीले के उत्खनन सन् 1912 में मार्शल द्वारा प्राप्त मुद्राओं के संग्रह की प्राप्ति अतीव महत्वपूर्ण है। इसमें बैक्ट्रिया के शासक डायोडोरस की एक मुद्रा एवं अन्य सभी भारतीय मुद्राएँ थीं। उनमें डायोडोरस की मुद्रा नवीन प्रतीत होती है तथा अन्य मुद्राएँ पिस जाने से प्राचीन प्रकट होती है। ई.पू. 250 वर्ष में डायोडोरस भारत में राज्य करता था भारतीय मुद्राएँ इस शासक मे अवश्य प्राचीन है। यूनानी इतिहासकारों से पता चलता है कि जब सिकन्दर ने उत्तर–पश्चिम भारत पर आक्रमण किया तो उस मार्ग में तक्षशिला के राजा आम्भी ने यूनानी राजा का स्वागत किया और भेंट में चाँदी की मुद्राएँ प्रदान की। इससे यह स्वतः प्रामाणित है कि सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारत में मुद्राओं का प्रचलन था। अतएव भारतीयों का यूनानी मुद्राओं की नकल पर मुद्रा तैयार करने का तथ्य अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है। भारतीय कला में ऐसे दो चित्र उत्कीर्ण है, जिनमें मुद्राओं का दृश्य दृष्टिगोचर होता है। मध्य प्रदेश में स्थित भरहुत की वहनी पर अंकित चित्र में गाड़ी से मुद्राएँ ले जाकर भूमि पर फैलाते हुए दिखलाई गयी है। इसमें जेतवन का दृश्य अंकित कर उसमें चौकोर कार्षापण (प्राचीन मुद्राएँ) बिछायी गई है। अन्य चित्र बोध गया मंदिर के स्तम्भों पर अंकित है। इन प्रमाणों से यह स्पष्टतः प्रकट है कि भारतीय मुद्राएँ स्वदेशी तथा स्वतः भारत में निर्मित हुई एवं उनका आकार चौकोर था। भारतीय मुद्रा की उत्पत्ति ईसा पूर्व चौंथी शती के पश्चात मानते हैं। उनके मत में ईरानी आक्रमण (ईसा पूर्व 6वीं शती) के बाद ही भारतीय मुद्रा का आविर्भाव हखामनी सिम्लाई मुद्रा के अनुकरण पर हुआ। इनका मत फ्रेज्य मुद्रा डेकोर डेमों के विचार पर आधारित है, परन्तु आकार–प्रकार, चिन्हों तथा तौल में भारतीय मुद्रा सिप्लाई से बिलकुल भिन्न है। सिम्लाई मुद्रा पर धनुष हाथ में लिये घुटने तक झुके हुए शासक का चित्र है, जबकि भारतीय मुद्रा पर ऐसे चित्र अंकित नहीं है। आहत मुद्रा की तौल 56 ग्रेन है, जबकि सिग्लोई मुद्रा का वजन 86 पैम है। सर्वाधिक प्राचीन आहत मुद्राएँ मध्यदेश में उपलब्ध हुई है, जहाँ पर छठवीं शती ई.पू. में हखामनी प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता।

कैनेडी बेबिलोनिया की मुद्रा शेकल्स का अनुकरण आहत मुद्राओं को मानते हैं, तथा इनका कालक्रम छठवीं शती ईसा पूर्व निर्धारित किया है, परन्तु बेबिलोनिया की शेकल्स मुद्रा भारतीय आहत मुद्राओं से चिन्हों व भारमान में मित्र है। शेकल्स का वजन 132 ग्रेन है, जबकि आहत मुद्रा का वजन 56 ग्रेन है। बेबिलोनियन शेकल्स भी भारत में प्राप्त नहीं हुए हैं। शेकल्स की प्राचीनता 525 ईसा पूर्व से पूर्व निर्धारित नहीं की जा सकती, जबकि आहत मुद्राएँ इससे पूर्व भारत में प्रचलित थी। इस प्रकार यह मत भी निषिद्ध है। माईकल गिशिनर का मत भी बेबिलोनिया के शेकल्स के अनुकरण पर भारतीय आहत मुद्राओं का है। इन्होंने भारत में विभिन्न स्थलों से प्राप्त रजत एवं ताम्र आहत मुद्राओं के चिन्हों तथा भारमान का अध्ययन कर अपना मत प्रकट किया है। आहत मुद्राओं का आविर्भाव तथा विकास

स्वतंत्र रूप से हुआ तथा उन पर किसी भी प्रकार के बाह्य अनुकरण का मत सिद्ध नहीं हो सकता। एडवर्ड टामस का मान्य मत भी यही है। इनका कथन है कि आकार–प्रकार बनावट व चिन्हों से ये मुद्राएँ स्वतंत्र रूप से निर्मिति की द्योतक हैं। कनिंघम का मत भी बाह्य अनुकरण अथवा विदेशी उत्पत्ति के मत के विपरीत है। आहत मुद्राओं की प्राचीनता के सम्बन्ध में उनका कथन है कि ये मुद्राएँ निश्चित ही बुद्ध के समय अथवा छठवीं शती ई.पू. में प्रचलित थी, अतएव इन मुद्राओं के आविर्भाव का समय संभवतः 1000 ई.पू. निर्धारित किया जा सकता है। भारतीय मुद्राशास्त्री एस के चक्रवती कनिंघम के मत से सहमत होकर इन मुद्राओं का विकास क्रम 800 ई.पू. निर्धारित करते हैं। देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने साहित्यिक तथा साधन स्रोतों के आधार पर यह मत प्रकट किया है कि भारत में ऋग्वेदिक काल में भी मुद्रा प्रचलित थी। विंटरनिरज के मत से सहमति प्रकट कर उन्होंने वैदिक कालक्रम 2500 ई. पू. से 800 ईसा पूर्व तक निर्धारित किया है।

अ. स. अल्लंकर ने अपने समीक्षात्मक लेख में प्राचीन भारतीय मुद्राः (रजत एवं ताम्र आहत मुद्राएँ) की प्राचीन तम तिथि 600 ईसा पूर्व साहित्यिक एवं पुरातात्विक साधन स्रोतों का गहन अध्ययन कर निश्चित की है। पाश्चात्य एवं भारतीय मुद्राशास्त्र के मतानुसार, जिनमें यूनानी मुद्राओं, हखामनी की सिग्लो तथा बेबीलोन के शेकल्स के अनुकरण पर भारतीय मुद्राओं की उत्पत्ति के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में आलोचनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन मुद्राओं पर किसी भी प्रकार का बाह्य अनुकरण नहीं है व इनकी निर्मित स्वदेशी है तथा इन मुद्राओं को तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न माना जा सकता है। भारत के प्राचीन स्थलों के उत्खनन से चिन्हित मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। जॉन मार्शल द्वारा किये गये दो उत्खननों सर्व प्रथम मीरभाण्ड टीले का उत्खनन सन् 1912 में किया गया जिसमें 167 रजत आहत मुद्राएँ तथा एक मुद्रा डायोडोटस द्वितीय की भी प्राप्त हुई है। द्वितीय स्थल तक्षशिला के अन्तर्गत सिरकप उत्खनन सन् 1924 में 1171 रजत आहत मुद्राएँ एवं दो स्वर्ण मुद्राएँ, एक सिकन्दर की मुद्रा तथा द्वितीय फिलिप एरिडियस की प्राप्त हुई। इन मुद्राओं की प्राप्ति से जॉन मार्शल ने इन आहत मुद्राओं का काल उरी शती ईसा पूर्व का अंतिम काल निर्धारित किया है। वाल्श एवं परमेश्वरीलाल गुप्त ने प्रथम निधि का समय प्राङ्ग मौर्यकाल तथा द्वितीय निधि का समय मौर्य काल माना है। पुरातात्विक साधन स्रोतों से यह प्रतीत होता है कि अचित्रित ढली मुद्राएँ लेख युक्त मुद्राओं से पूर्व प्रचलित थीं। उत्खनन के स्तरीकरण के प्रमाणानुसार प्राचीन भारत के विभिन्न स्थलों जैसे हस्तिनापुर, कौशाम्बी, राजघाट, श्रावस्ती सहगोरा आदि से यह प्रामाणित होता है कि अथिति (लेख रहित) ताम्र मुद्राएँ चौथी या तीसरी शती ईसा पूर्व में प्रचलित थी। ये मुद्राएँ आहत मुद्राओं तथा उत्तरीय कृष्ण राजित मृण्मय पानी के साथ में प्राप्त हुई है।

पूर्वी भारत के उत्खनित विभिन्न स्थलों जैसे वैशाली, चिरौद, सोनपुर, कुम्हरार तथा पश्चिमी बंगाल के स्थानों से ज्ञात मुद्राओं से यह प्रकट है कि ये मुद्राएँ द्वितीय शती ईसा पूर्व के मध्य प्रचलित हुई। मालवा के उत्खनित विभिन्न स्थलों जैसे आयरा, उत्तयिनी, एरण कसरावद दंगवाडा, भीम बेटका, महेश्वर नावडोली निजा तथा विदिशा के स्तरीकरण के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि ताम्र–आहत मुद्राएँ ताम्राश्मयुगीन स्तर से प्राप्त नहीं हुई हैं, अतएव इनके प्राप्ति स्तर से भी इनका कालमान ज्ञात होता है। उत्तरीय कृष्ण–राजित गृष्मय पात्र के साथ मिलने के कारण इनकी तिथि वैज्ञानिक रीति से ईसापूर्वी शती निर्धारित की जा सकती है। लेख युक्त मुद्राएँ लेख–विहीन मुद्राओं के पश्चात् प्रचलित हुई। इस प्रमाण की पुष्टि उयिनी एरण नावडोली तथा विदिशा उत्खनन के स्तरों से प्राप्त मुद्राओं से होती है उज्जयिनी उत्खनन से उज्जयिनि नगर नामांकित तीन मुद्राएँ द्वितीय काल के मध्य स्तर से (500ई. पू. से 200 ई.पू. तक) प्राप्त हुई है।

ये मुद्राएँ उत्तरीय कृष्ण–राजित मृण्मय पात्र के साथ मिली है। एरण उत्खनन में मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में राजा इन्द्रगुप्त नामांकित सीसे का एक अर्द्ध वृताकार टुकड़ा, पकी मिट्टी की एक लेख युक्त मुहर, जिस पर एरण नगर का पुराना नाम एरिकिणे लिखा है। द्वितीय काल के स्तर (द्वितीय शती ईसा पूर्व) से ज्ञात है। नावदातोली उत्खनन में (400 ईसा पूर्व से 100 ईसा पूर्व) एक मुद्रा प्राप्त हुई है। विदिशा (बेसनगर) उत्खनन में वैदिस नगर नामांकित मुद्राएँ द्वितीयकाल तीसरी शती ईसा पूर्व से दूसरी शती ईसा पूर्व) से प्राप्त हुई है। अतएव प्राचीन भारतीय साहित्यिक साक्ष्य, जिनमें वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद, पाणिनि की अध्यावी कात्यायन श्रौतसूत्र महाभारत, बौद्ध साहित्य (विभिन्न जातक विनय पिटक, ममिव अंतर निकाय), कौटिल्य का अर्थशास्त्र मनुस्मृति व याज्ञवल्क्य स्मृति तथा पुरातात्विक भारत के विभिन्न उत्खनित स्थलों के स्तरों से प्राप्त मुद्राओं के प्रमाणों के आधार पर प्राचीन भारतीय मुद्राओं का आविर्भाव काल 800 ईसा पूर्व से 600 ईसा पूर्व के मध्य स्पष्ट रूप से निर्धारित किया जा सकता है।

विदेशी भाषाओं में चरकसंहिता

जयप्रकाश परिहार

'चरक' शब्द संस्कृत का न होकर पहलवी भाषा का प्रतीत होता है। प्रथम शताब्दी के दौरान चरकसंहिता का पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ था। फारसी में चार शब्द चिकित्सा के द्योतक हैं। पहलवी भाषा में चारेक का अर्थ चिकित्सक के साथ–साथ भ्रमणशील भी था। चरक एक शाखा का नाम है। इसकी विस्तृत चर्चा यजुर्वेद में है। इसी शाखावाला चरक कनिष्क का राजवैद्य था। वृहद्उपनिषद, में चरक शब्द बहुवचन में आया है। गांधार के इलाके में चरक शाखा के लोग रहते थे जो चिकित्सा कार्य में निपुण होते थे। इसी शाखा का कोई चरक कनिष्क का राजवैद्य इसी चरक ने चिकित्सा विज्ञान ग्रन्थ चरकसंहिता की रचना की– यह कहना मुश्किल है। चरकसंहिता का क्षेत्र काय–चिकित्सा है। इस ग्रन्थ की भाषा और शैली दोनों सरल हैं। इसमें लिखा है कि सामान्य सर्दी लगने पर यदि इसकी चिकित्सा प्रारम्भ में ही कर ली जाए तो इससे होनेवाले ज्वर, खाँसी, गले में सूजन आदि रोगों की लम्बी परम्परा टूट जाती है और यदि चिकित्सा न की जाए तो यह परम्परा बनती जाती है। इस ग्रन्थ में करीब 20–25 तरह के चावलों का उल्लेख है। चिकित्सा में अनार के सिवाय दूसरे किसी फल का उपयोग नहीं है। स्त्रीरोग को दूर करने के लिए केला उपयोगी बताया गया है। इस ग्रन्थ में दूध, दही, घी आदि के गुण–दोष विवेचित हैं। गन्ने के रस से गुड़, राव, मोटी मिश्री और मुल्तानी मिश्री बनाई जाती थी। चार प्रकार के मधु का वर्णन है।

चरकसंहिता में बताया गया है कि चिकित्सा व्यवसाय में ठगी चलती थी। ये समाज का काँटा थे। ये रोगों को शरीर में प्रवेश कराते, रोग को बढ़ाते और प्राणों को बाहर निकालनेवाले होते थे। किसी बड़े रोग से रोगी के स्वस्थ होने पर उसे सब जाति–बन्धुओं को दिखाया जाता था ताकि वैद्य को यश मिले। अच्छी तथा परिश्रम से किसी औषध के सिद्ध होने पर उसका विज्ञापन तथा सूचना देने की चर्चा इसमें है। इसमें कहा गया है कि बिना साधनों के जीवन बिताना पाप है। साधनों के लिए धन एकत्रित करने की चर्चा है। इसके लिए सब से सम्मानित वृत्तियों का सहता लेने की सलाह दी गई है। चरक का दृष्टिकोण था कि शरीर का विकार केवल चिकित्सा से दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि चेतना के बिना शरीर निरर्थक हो जाता है। चंदनाशील पुरुष की चिकित्सा होनी चाहिए। चरकसंहिता शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को काफी बारीकी से देखा गया है तथा निदान एवं चिकित्सा में देहमानम की अवधारणा की गई है? प्रत्येक पुरुष को प्रकृति की विशेषता को ध्यान में रखकर चिकित्सा करने का इसमें विधान है चरक ने चिकित्सा की एक व्यक्तिगत प्रक्रिया माना जो उसी रूप में दूसरे पर लागू नहीं हो सकती। प्रमाणों में तर्क को स्थान देना चरक की मौलिकता है। तार्किक व्यक्ति हो अपने कार्य में सफल हो सकता है। प्रमाण के लिए अनेक स्थलों पर 'परीक्षा' शब्द का प्रयोग चरक की परीक्षात्मक शैली का द्योतक है। उसने स्पष्ट लिखा है कि औषध रोग को दबाने के लिए नहीं बल्कि प्रकृति को मात्र देने के लिए प्रयुक्त होती है। आचार रसायन चरक को मौलिक देन है। आवार का पालन करने से बिना औषध के भी रसायन का फल प्राप्त होता है और बिना आचार पालन के औषध भी व्यर्थ हो जाती है। चरक लिखता है कि किसी भी रोग का कारण होता है। उस कारण का परित्याग करके रोग से मुक्ति मिल सकती है अथवा उस कारण को दूर करने के लिए औषध का प्रयोग किया जा सकता है। चरकसंहिता के अध्ययन से पता चलता है कि औषध के रूप में मूंगा के बाद मोती का प्रयोग होने लगा। रक्त, मांस, मेद, शुक्र आदि का इलाज चरककाल से प्रारम्भ हुआ कच्ची औषधियों तथा प्रमाणित औषधियों को सम्यक् रूप से सुरक्षित रखने के लिए उत्तम भंडारा होता। क्योंकि यदि औषधियाँ जल कोट आदि से दूषित हो जाती तो उनको तीक्ष्णता कम हो जाती थी। भंडारागार पूरव या उत्तर मुख का होता था। इसमें अधिक वायु प्रवेश न होकर वायुसंचार होता रहता था। उसकी बनावट ऐसी होती जहाँ अग्नि, जल, सोलन, धुआँ धूल चूहा तथा अन्य चौपाए प्रवेश नहीं

कर सके। वह सभी ऋतुओं के लिए अनुकूल होता था। ऐसे भडारागार में औषधियाँ थैलों और भाड़ों में ढँककर रखी जाती थी। चरकसंहिता के अनुसार चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई करने के लिए वह लड़का योग्य समझा जाता जो प्रशान्त आर्यप्रकृति, तनुरक्तविशजिह्व, वैद्यकुल में उत्पन्न हो अथवा उसमें वैद्यक व्यवसाय के अनुकूल आचरण हो, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ तथा उत्तम गुणों से युक्त हो। आयुर्वेद के अध्ययन में रुचि एवं लग्न हो। आचार्य के उपदेशों का अनुसरण करनेवाला तथा अनुशासन माननेवाला हो। स्वभाव से शान्त, सात्त्विक, धीर, विनम्र तथा लोभ– आलस्य–क्रोध और व्यसन से रहित हो, सदाचारी, दयालु और दूसरों को भलाई सोचनेवाला हो। इन योग्यताओं के होने पर ही शिष्य, आचार्य का संरक्षण प्राप्त कर सकता था। शिष्य को अपनी सामर्थ्य तथा परिस्थितियाँ देखकर पाठ्यक्रम निश्चित करना होता था। उसे क्या सीखना है, इसका निश्चय वह स्वयं करता था।

चरकसंहिता में हड्डियों की संख्या 360 और त्वचा की संख्या 6 बताई गई है। चरक का शरीर ज्ञान अधिकतर आध्यात्मिक है, उसमें स्थूल शरीर का ज्ञान विशेष नहीं मिलता। स्थूल शरीर का ज्ञान जो आज अधिक से अधिक मिलता है उसका मुख्य आधार सुश्रुत है। चरक ने अग्नि को आयुर्वेद का मूल बताया है। अग्नि से जब शरीरस्थ अन्न का परिपाक होता है तब इसी से शरीर की धातु पुष्ट होती है। शरीर में दोषों की व्यापकता दूध के अन्दर व्याप्त घी की भाँति है, शरीर के प्रत्येक कण में ये तीनों दोष रहते हैं। शरीर के जिस भाग में जो दोष अधिक मात्रा में रहता है, उसे सामान्य भाषा में दोष स्थान कहते हैं। इस दृष्टि से नाभि से नीचे वायु का, नाभि से ऊपर गले तक पित्त का और सिर में कफ का स्थान है। शरीर के अन्दर और प्रकृति में वात–पित्त–कफ के जो कार्य होते हैं, चरक ने उसकी समानता आयुर्वेद में दिखाई है। इन तीनों के जो भी कार्य होते हैं, वे सम्मिलित होते है। शरीर के दोषों में वात–पित्त–कफ तीनों दोषवाले हैं, इसीलिए मानसिक रोगी शारीरिक रोगियों की अपेक्षा कम मिलते हैं।

चरक के अनुसार जो प्रयोग या उपाय एक व्याधि को दूर करके दूसरी खड़ी करता है, वह सच्ची चिकित्सा नहीं है। 36 प्रकार के घाव का वर्णन चरकसंहिता में है जिनके 24 कारण बताए गए हैं। चरक ने 96 प्रकार के नेत्ररोग, 28 प्रकार के कर्णरोग, 31 प्रकार के नाकरोग, 11 प्रकार के शिरोरोग और 65 प्रकार के मुखरोग का उल्लेख किया है। इस संहिता में नकली दाँत लगाने का उल्लेख है चरक का रसायन प्रकरण अधिक बुद्धिगम्य और सरल है। आँवले और दूध का उपयोग बहुत सुन्दर है। इसमें शिलाजीत, हरीतिका, त्रिफला आदि बहुत से रसायनों का उल्लेख है। चरक की औषधियों में मानसिक पवित्रता का ध्यान रखा गया है। चिकित्सालय पर प्रकाश डालते हुए चरक लिखता है कि रोगी का इलाज किया जाता था। चिकित्सालय मजबूत, सीधी लायक, एक पार्श्व से वायु प्रवेशवाला, सुविधापूर्वक जिसमें बगल के मकान से नहीं सदा रहनेवाला धुआँ, धूप, वर्षा और भूल से हुआ, अनिच्छित शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध जहाँ पर न पहुँच सके पानी का प्रबन्ध हो, कल–मूल, स्नान के स्थान से युक्त, शौचालय, रसोई हो ऐसा चिकित्सालय गृह शिल्प–विद्या जाननेवाले व्यक्ति द्वारा मजबूत ढंग से बना होता था। चिकित्सालय में शील–शौच–आचार–अनुराग–दक्ष और समझदार, सेवाकार्य में कुशल, सब कार्यों को सीखे हुए, रसोई पकानेवाले, स्नान–संवाहन उठाने बैठाने, औषध तैयार करनेवाले भृत्यों को जो सब प्रकार के कार्यों को करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट न करें, गाने–बजाने–स्तोत्र पाठ श्लोक–गाथा – कथा–इतिहास– पुराण कहने में कुशल अभिप्राय को समझने में चतुर, मन के अनुकूल, देश–काल को पहचानने वाले मुसाहिबयों को भी वहाँ रखा जाता था। बटेर, कपिंजल, खरगोश, हरिण, कालमृग आदि पशु तथा दुधारी, सीधी, निरोगी, बछड़ेवाली गाय का प्रबन्ध रहता था। पानी के बड़े मटके, पीढ़ कढ़ाह, थाली, लोटा पानी निकालने का बर्तन, मथनी, करछुल आदि आवश्यक वस्तुएँ यहाँ इकट्ठी रहती थीं।

शय्या–आसन के पास करवा (धातु का टॉटीदार बरतन) और पीकदान रखा रहता था। शय्या और बैठने का पीढ़ा अच्छी प्रकार बिछे हुए पीछे की तरफ सहारे तकियेवाले होते जिससे उनके ऊपर बैठकर स्नेहन–स्वदेन वमन विरेचन, शिरोविरेचन आदि कार्य सुखपूर्वक किये जा सके। अच्छी प्रकार धुले तथा तैयार किये पीसने का पत्थर, आवश्यक शस्त्र, धूमनेत्र, वस्तिनेत्र तराजू, मापने के पात्र, घी, तेल, वसा, मज्जा, मधु, राव, नमक, ईंधन, सुरा, सौवीरक, तुपोदक, मैरेय, मेदक, दही, मंड, शालिधान, मूंग, उरद, तिल, कुलत्थ, बेर, मृढीका हरड़, बहेड़ा. आँवला आदि नाना प्रकार के स्नेह–स्वेद के उपयोगी द्रव्य तथा अन्य औषधियों का संग्रह किया जाता था। इन वस्तुओं के अलावा आवश्यकतानुसार चिकित्सा कर्म में जिनकी सम्भावना होती, उन सब चीजों को पहले से एकत्र करके रखा जाता था। चिकित्सालय में रहनेवाले रोगी को समझा दिया जाता कि वह जोर से नहीं बोले। उसे बहुत खाना, बहुत बैठना बहुत घूमना क्रोध–शोक–शीत–धूप–ओस–वायु– सवारी करना, रात में जागना, दिन में सोना आदि छोड़ देना पड़ता था। औषधविज्ञान एवं चिकित्सा व्यवसाय के क्षेत्र में विज्ञान और धार्मिक रूढ़िवाद के बीच हमेशा तीव्रतम संघर्ष रहा। इस क्षेत्र की प्रकृति के अनुसार यह सब स्वाभाविक एवं अनिवार्य बात थी। वेदान्त भाववाद की बुनियादी अवधारणाओं के साथ कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा उच्च वर्णों की 'शुद्धता' को निम्नवर्णों के 'प्रदूषण' से बचाने के लिए ब्राह्मणीय व्यवस्था द्वारा लगाए गए निषेधों से सीधी मुठभेड़ किए बिना चिकित्साविज्ञान का विकास असम्भव था। चरक और सुश्रुत जैसे वैद्यों ने विज्ञान के सिद्धान्त और चिकित्सा व्यवसाय का व्यवहार जैसे तीनों क्षेत्र में आनेवाली चुनौतियों को खुले मन से स्वीकारा। चरक का सम्बन्ध औषधविज्ञान के साथ इससे जुड़े अनेक सहायक प्रश्नों तथा विचारधारा से है।

ऋग्वेदयुगीन धातु कार्य

सनतकुमार वर्मा

ऋग्वेद के उल्लेख बताते हैं कि धातुओं को (भट्टी में डालकर) धमत् (तपाया और गलाया) किया जाता था धातु को भट्टी में डालकर पक्षियों के परों से बनी धमातृ (धौकनी) की सहायता से अग्नि को नियंत्रित कर गलाया जाता था। धातु को गलाने की क्रिया धमनि या संघमन कहलाती थी और इस क्रिया के करनेवाले को धमातरी या कर्मार कहा जाता था। धातु को पीटकर या धातु को गलाकर और साँचे में ढालकर विविध वस्तुएँ बनायी जाती थीं। ऋग्वेद में धातु को पीटकर सोम के प्याले को बनाया हुआ बताया गया है। इसी प्रकार धातु को पीटकर और गलाकर देवों की प्रतिमाएँ भी बनायी जाती थीं। लोहे की ऋग्वैदिक काल में उपस्थिति और अनुपस्थिति को लेकर विद्वानों में मतभेद है। अधिक संभावना यह है कि ऋग्वैदिक आर्यों के पास लोहा था जिसका उपयोग वह जानते थे, क्योंकि ऋग्वेद का पहला ही मंत्र 'अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्श् जिन रत्नों का उल्लेख करता है वे रत्न अपनी प्रारंभिक अवस्था में अनगढ़ पत्थर होते हैं, जिन्हें काट–छाटकर और उन पर पहलुओं को तराशकर रत्न बनाया जाता है। पहलूदार तराशी के कार्य से ही रत्न आभदार और रत्न कहलाता है।

रत्नों के पत्थरों की कटाई–छटाई पहलू–तराशी लोहे के अतिरिक्त किसी अन्य धातु से संभव नहीं। रत्न क्या रहा होगा ? इस विषय में ऋग्वेद व वैदिक साहित्य में उपलब्ध रत्न और उनके उपयोग के विभिन्न उल्लेख, मणि और उनके उपयोग, उनमें छेद, छेद करने की क्रिया का कथन आदि ऐसे अनेक स्पष्ट संकेत हैं, जो बतलाते हैं कि ऋग्वैदिक आर्यों के रत्नों का रूप वही था जो आज के रत्नों का है। अतः रत्नों के विषय में संदेह के लिए कोई अवकाश नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आर्य लोहे के उपयोग करते थे। स्वर्ण ऋग्वैदिक आर्यों की बहुचर्चित, बहुमूल्य और बहु–उपयोगी धातु है। स्वर्ण का उपयोग आर्य प्रतिमाओं के निर्माण में भी करते थे। शतपथ ब्राह्मण में आये प्रजापति और सूर्य आदि की प्रतिमाओं के उल्लेखों से स्पष्ट है कि प्रतिमाएँ स्वर्ण से निर्मित थीं। ऋग्वेद के मंत्र में स्वर्ण के गलाये जाने का संकेत है। प्रतिमाएँ स्वर्ण निर्मित होती थीं। इस विषय में वृहदारण्यक उपनिषद् का कथन अत्यंत स्पष्ट है कि स्वर्णकार एक प्रतिमा का स्वर्ण लेकर उससे नवीन और अधिक सुंदर (कल्याणतर) रूप (प्रतिमा) की रचना करता है। अन्य धातुओं रजत (चाँदी), ताँबे, काँसे और सीसे के विषय में भी आर्यों को जानकारी थी और वे उनका उपयोग करते थे। ऋग्वेद में मूर्तिपूजक शास्त्रीय संकेतों का उल्लेख इस प्रकार है: 'उः विष्णो विक्रमश्व उः क्षयाय नः कृधि।' इसके अनुसार विष्णु की नाभि (हृदय–स्थल से नीचे) 12 अंगुल पर होनी चाहिए। हृदय और नाभि के बीच की इस बारह अंगुल की दूरी को आदर्श माप माना गया है। ऋग्वेद के पुरुष 'सूक्तः श्सं भूमि विश्वतो वृत्यात्यतिष्ठ दशांगुल' में सहस्र हाथ–पैरवाले पुरुष को जब सामान्य पुरुष से दस अंगुल बड़ा होना बताया गया है तो प्रश्न यह है कि मनुष्य की सामान्य ऊँचाई क्या है? ऋग्वेद के 'दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षा' के अनुसार मनुष्य की ऊंचाई दस अरत्रि है। 'दशास्त्रि' पद की व्याख्या में वेंकट माधवश् ने 'दस चमसा भवन्ति' कहा है। इस माप को लेकर मतैक्य नहीं है, क्योंकि अरित्र के समान ही एक दूसरा शब्द मिलता है: अरलि जिसकी माप 24 अंगुल मानी गयी है और मनुष्य का कद अरत्नि माना गया है। अरत्रि और अरत्नि का पारस्परिक संबंध क्या है यह स्पष्ट नहीं है, लेकिन इससे इतना स्पष्ट है कि मनुष्य के कद की – एक निश्चित माप रही है जिस माप के आधार पर पुरुष सूक्त के रचनाकार ने पुरुष सूक्त के पुरुष को दस अंगुल बड़ा बताया है। पुरुष सूक्त के पुरुष को अथर्व वेद, वाजसनेयि संहिता व तैत्तिरीय आरण्यक के पुरुष सूक्त के संदर्भ में देखने पर पता चलता है कि तैत्तिरीय आरण्यक का पुरुष वस्तुतः एक प्रतिमा हैरू पुष्कर्पणरुक्मं पुरुषं इत्युप दधाति। पुरुष का वजन या मान 21 माशा माना गया है। यह एक प्रामाणिक माप है, जो मनुष्य की प्रतिमा के बजन की ओर संकेत करती है। वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार की छोटी–बड़ी माप मिलती है। अगुल, अंगुलि या अंगुष्ठ सबसे छोटी और प्रारंभिक माप है, जो आकर या विस्तार नापने के लिए एक मानदंड है। अंगुल की माप लगभग दो सेंटीमीटर है। यह माप पृथक–पृथक स्थानों पर पृथक–पृथक मिलती है। वस्तुतरू यह और अन्य समस्त माप व्यक्ति के आकार–प्रकार (लंबाई, चौड़ाई और मोटाई) पर निर्भर करती हैं। फलत ये मानकीकृत

माप नहीं है। इसलिए इन माप की दूरिया न्यून्याधिक रही है। उदाहरण के लिए, कात्यायन श्रौत सूत्र में अंगुल की दो माप हैं। एक माप के अनुसार 12 अंगुल का एक पद माना गया है और दूसरी माप के अनुसार 15 अगुल का 15 अंगुल का पद 29 सेंटीमीटर के बराबर माना गया है। शुल्व सूत्र 16 अंगुल की माप को एक पद के बराबर मानता है। 8 पद या पाद का तात्पर्य पैर के तलवे से है। यह 12 अंगुल की दूरी की माप है, जो लगभग 23 सेंटीमीटर होती है। वितस्त यानी बालिश्त हाथ के फैले हुए पजे की अंगूठे से लेकर कनिष्ठ अंगुली तक की माप है, जो लगभग 23 सेंटीमीटर होती है। यह नाप पद के बराबर है। पृथ मुट्ठी बंद कर अंगूठे के मूल स्थान से लेकर कनिष्ठ अंगुली के मूल स्थान पर होते हुए, मुट्ठी की दूसरी ओर से पुन अंगूठे तक की दूरी की माप है। यह माप लगभग 25 सेटीमीटर यानी पाद के बराबर होती है। बाहु या भुजा हाथ की कोहनी से लेकर बड़ी अंगुली की दूरी तक की माप, लगभग 46 सेंटीमीटर है। अरत्नि या अरत्रि, यह दो पाद या 24 अगुल या बाहु के बराबर की माप, लगभग 170 सेंटीमीटर है।

पुरुष की माप (कद) चार अरत्नि मानी गयी है। 'व्याम' अगल–बगल फैले हुए दोनों हाथों की एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक की दूरी की माप, जो लगभग 170 सेंटीमीटर है। शतपथ ब्राह्मण व्याम को चार अरलियों के बराबर मानता है। जबकि आश्वलायन गृह्य सूत्र पांच अरत्नियों के बराबर। मूर्ति–रचना–प्रक्रिया में मूर्ति को सुकृत करने के संबंध में ऋग्वेद का निर्देश 'अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीक' उल्लेखनीय है। जिसका अर्थ है, असुंदर को सुंदर बनाओ वेंकट माधव इस पद को व्याख्या 'अशोभन अवयवम् अरि करब शोभन अवयव करते है अर्थात्, अशोधन (शारीरिक) अवयवों को शोभन अवयव करो। किसी जीवधारी के अवयवो को जो असुंदर है उन्हें किसी प्रकार से सुंदर (अवयवों में बदलना संभव नहीं। अतः यह अशोभन अवयवों को शोधन अवयव करने का निर्देश मूर्ति के प्रसग में हो सार्थक है और इसका स्पष्ट अर्थ तुली हुई या गढ़ी हुई मूर्ति के उन असुंदर अंगों को रेत कर रगड़ कर चमका कर आदि किसी भी रचना–प्रक्रिया द्वारा सुंदर करने से है। ऐसे ही कुछ अन्य उल्लेख है इंद्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत् अर्थात् इद्र के जनयिता (मूर्तिकार) ने इंद्र को अतिशय शोभन बनाया। यह कचन इंद्र– प्रतिमा के निर्माता (मूर्तिकार) को कार्य दक्षता को प्रशंसा के लिए है। इद्रय विष्णुः सुकृतः कर्तृभिभूत् व प्रादुर्भूतेन सुक्तः भवति में आये क धातु के पद सुकृत का उपयुक्त अर्थ स्तुति करना न होकर निर्माण करना है, क्योंकि क (धातु) का सही अर्थ निर्माण करना होता है। प्रतिमाओं को मुक्त करने के बाद अलंकृत भी किया जाता था इंद्राग्न सुभता नर जिसकी व्याख्या सायण नागाविधेर अलकारे शोभितान कुरुत करते हैं।

शुभ का अर्थ स्तुति भी है लेकिन उपरोक्त स्थलों पर जहा जहा सुभ शब्द आया है, उसकी स्पष्ट व्याख्या मात्र स्तुति अर्थ लगाकर नहीं की जा सकती। प्रतिमाएँ आरंभ से ही आभूषण से अलंकृत की जाती रही है। इस संदर्भ में नृपेश्स पट उल्लेखनीय है, जिसका अर्थ रोध के अनुसार, मानव द्वारा अलंकृत करना है। प्रो. वेंकटेश्वर का कहना है कि यदि इसका अर्थ 'मानव–रूपवान' किया जाये तो अधिक उपयुक्त बैठता है, क्योंकि वरुणाय ऋतपेशस और पिपिशे हिरण्ये का अर्थ विल्सन स्वर्णाभूषणों से दोनियुक्त करते हैं, लेकिन पिशे धातु से बने जिन शब्दों का अन्य स्थलों पर प्रयोग हुआ है वहा उनका संकेत आभूषणों की अपेक्षा उसके दृश्य रूप या संभवत सजावट से रहा है। उदाहरण के लिए, उषा के वर्णन में पेशस का अर्थ आभूषण करने की अपेक्षा उषा नर्तकी के समान सौदर्य धारण किये हुए है, करना अधिक उचित प्रतीत होता है। देव–प्रतिमाए देवों के लिए प्रयुक्त विशेषणों के अनुरूप सजायी जाती थी क्योंकि ये विशेषण उनके रूप, गुण और कार्य के अनुसार उन्हें दिये गये थे।

अतः प्रतिमाओं को इन्हीं विशेषणों के अनुसार रंग से रंगा जाता था, वस्त्र और आभूषणों से सजाकर उन्हें उनके आयु सहित रथ–वाहनों पर दर्शाया जाता था। उदाहरण के लिए, इंद्र की प्रतिमा के बाल और दाढ़ी–मूंछ उसके विशेषणों हरिकेश और हरिश्मधु के अनुसार स्वर्ग रंग की बनायी जाती थी। अनि को निष्की वरुण को विभद्र द्वापि हिरण्ययः स्वो से अलकृत किया जाता था। देवताओं के इस मूर्तिकरण के साथ ही प्रतीकीकरण, मानवी और पशुःपकरण भी हुआ। देवों के प्रतीक के लिए ऋग्वेद का यह दृष्टव्य हैः 'चत्वारि श्रृंग त्रयोय पदा दवे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोर्वीति।' इस अग्निदेव की मूर्ति में उन्हें चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथों वाले एक मजबूत वृषभ के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अग्नि के इस प्रतीक में उसके द्वारा दिए गए उपयोग के बारे में एक विशेष संदर्भ निहित है कि इसके सात हाथ इसके लैपटॉप के प्रतीक हैं। इसकी स्पष्ट व्याख्या मुंडकोपनिषद् में बताया गया है कि अग्नि के सात हाथ शेष हैंः काली, कराली, मनोजवा,सुलोहिता, सधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची। सूर्य के सात घोड़े भी इसी प्रकार उसके सात रंग और सात लोक आदि के सूचक हैं। सूर्य की सहस्र आंखें उस की सहस्र (अनंत) रश्मियों की सूचक हैं।

इसी प्रकार अश्व के रूप में संवत्सर का प्रतीक उभरा है, जिसमें उषा को उसका सिर, सूर्य को उसकी आंखें और वायु को उसकी सांस बताया गया है। पुरुष सूक्त का सहस्र हाथ, पैर और सिरवाला पुरुष भी समाज का प्रतीक मूर्तिकरण है और इसी प्रकार विश्वकर्मा जिसके चारों ओर हाथ, पैर, आँख, मुह आदि बताये गये हैं परमदेव का प्रतीक मूर्तिरूप है। उषा, राका, कुहू और सिनीवाली जैसी देवियों का भी मूर्तिकरण किया गया है जबकि ये अमूर्त हैं। प्रतीकों के इस प्रसंग में ऋग्वेद का मंत्र भी उल्लेखनीय हैः द्वय सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति। अर्थात्, सुंदर पंखोंवाली दो चिड़िया (आत्मा और परमात्मा), जो आपस में घनिष्ठ मित्र हैं, सखा भाव से एक ही पेड़ (सृष्टि) पर बैठी हुई हैं।

वैश्विक सभ्यता और मानव का अस्तित्व

रितु मिश्र

पूर्ण मानव कब से और कहाँ पाए गए इस पर विद्वान एकमत नहीं है। कुछ विद्वान एशिया और कुछ अफ्रीका में बताते हैं। 1938 में उज्बेकिस्तान में निएंडरथल शिशु का अवशेष मिला जिसमें पूर्ण मानव की अधिकांश विशेषताएँ पाई गईं। पूर्ण मानव चार प्रकारों में बाँटा गया क्रोमेग्नन–मानव के अवशेष फ्रांस, अफ्रीका, एशिया और ऑस्ट्रेलिया में पाए गए। ग्रिमाल्टी मानव फ्रांस में मेडिट्रेरियन सागर के तट पर 1901 में ग्रिमाल्डी नामक गुफा में अवशेष के रूप में पाया गया। कोब कोपेल मानव का अवशेष 1909 में फ्रांस के दोदर्शन स्थान से मिला और शांसलाद मानव के अवशेष फ्रांस से 1888 ई. में मिले। ये चारों प्रकार पूर्ण मानव के हैं।

1951 में सी. कून नामक विद्वान ने ईरान से पूर्ण मानव का एक अवशेष प्राप्त किया जो करीब लाख वर्ष पहले का बताया गया। इन सभी तथ्यों के आधार पर अभी तक यह बताना सम्भव नहीं हो पाया है कि पूर्ण मानव कब से पाया गया। धीरे–धीरे पूर्ण मानव सीना तानकर खड़ा होने और चलने लगा तो इसके परिणामस्वरूप उसे दो हाथ मिल गए और पशु–पक्षियों से वह भिन्न हो गया। सैकड़ों प्रकार का काम वह हाथों से करने लगा। उसके हाथ औजार का काम भी करने लगे। यह औजारों के निर्माण की अवस्था में पहुँच गया। औजार मानव अंगों के विस्तारित रूप है। एक वैज्ञानिक अथवा व्यवस्थित सोच के बिना औजार नहीं बनाए जा सकते हैं उपयोग का विचार आने के बाद ही औजार का आकार प्रकार बनता है। विचार से भाषा जुड़ी है। विश्व में आज दो हजार से अधिक भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। भाषा से ध्वनियाँ जुड़ी हैं। भाषा एक मानसिक अभिव्यक्ति है। यह मात्र मानव समाज में सम्भव है। भाषा का प्रयोग मानव समाज में रहकर ही किया जा सकता है। भाषा सहयोग का माध्यम है। जब संस्कृ ति बदलती है तो भाषा में नए–नए शब्द जुड़ते जाते. हैं। पुराने कई शब्द समाप्त भी हो जाते हैं। भाषा की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। भाषा की अभिव्यक्ति बच्चे हाथ–पैर हिलाकर और बड़े लोग जीभ घुमाकर करते हैं। वयस्क भी हाथों की मुद्रा से भाव और भाषा को अभिव्यक्त करते हैं। सिर और हाथ हिलाकर भाषा के रूप में भावों की अभिव्यक्ति तो आम प्रचलन में हो गई है। मनुष्य खड़ा होकर दो पैरों पर चलने लगा तो उसकी अंगुलियाँ शक्तिशाली हो गई और उनमें पकड़ने की शक्ति में वृद्धि हुई। पशुओं की अंगुलियाँ औजार के रूप में काम नहीं करती किन्तु मानव की अंगुलियाँ उपकरणों के रूप में प्रयोग की जाने लगीं। पुरातत्ववेत्ताओं ने प्राक् इतिहास मानव के काल को दो भागों में विभाजित किया है– पाषाण युग और धातु काल। मानव जब पत्थर के बने औजार का प्रयोग करता था तो उस काल को पाषाण काल

कहते हैं। पाषाण काल को विद्वानों ने तीन भागों में बाँटा है– करीब 5 लाख ई.पू. और 12000 ई.पू. के बीच के काल को पूर्व पाषाण युग कहा गया। पूर्वपाषाण और नवपाषाण युग के बीच के संक्रमण काल को मध्यपाषाण काल, और करीब दस हजार ई.पू. तक के काल को नवपाषाण काल कहा गया। इसके बाद कुछ समय तक संक्रमण का काल रहा और करीब 7 हजार ई. पू. से धातुकाल की शुरुआत हुई, जिसे तीन भागों में ताम्रकाल कांस्यकाल और लौहकाल में बाँटा गया। करीब 7000 और 4000 ई.पू. के बीच की अवधि को ताम्रकाल कहा गया। नगरों का अस्तित्व और लिपि का आविष्कार के साथ कांस्यकाल एवं ई.पू. करीब 1200 से लौहयुग का प्रारम्भ हुआ।

निएंडरथल जाति के पाषाण हथियार (खुरचन, पत्थर का रंदा, आरा, चाकू, सुआ, भाला, बर्छी आदि) फ्रांस के ल–मौस्तार नामक स्थान से पाए गए और इसे मौस्तारी संस्कृति कहा गया। समाज निर्माण की ओर बढ़ने का प्रथम प्रयास मौस्तारी मानव ने किया। इस काल का मानव मरने के बाद के जीवन पर विश्वास करने लगा था। ई.पू. 35,000 के आसपास निएंडरथल मानव विलुप्त होने लगे और यूरोप में पूर्ण मानव और नए औजार आ गए। इस काल में ब्लेंड– हथियार प्रमुख हो गए। फ्रांस में अवस्थित औरिन्याक गुफा में जो सांस्कृतिक अवशेष पाए गए उसके कारण इसे औरिग्नेसी संस्कृति कहा गया। इस संस्कृति से मिलते–जुलते अवशेष मध्य यूरोप, इटली, अफ्रीका, साइबेरिया, उत्तरी चीन और दक्षिण भारत से पाए गए हैं। फ्रांस में अवस्थित माग्दली नामक स्थान से पूर्ण मानव के अवशेष मिले और इसे माग्दली संस्कृति कहा गया।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भारतीय गणित व ज्योतिष के सूर्य भास्कराचार्य

भास्कराचार्य प्राचीन भारत के सबसे महत्वपूर्ण गणितज्ञ–खगोलविद् हैं। ईसा की बारहवीं सदी में आज से लगभग नौ सौ साल पहले जन्मे भास्कराचार्य ने भारतीय गणित व ज्योतिष को लगभग चरम पर पहुँचा दिया था। विद्वानों का मानना है कि उसके बाद भारत में गणित व ज्योतिष का विकास बहुत कम हुआ। उनकी 'लीलावती' पुस्तक के बारे में आज भी गाँवों में बुजुर्ग लोग बात करते मिल जाते हैं। इस प्रसंग में एक दिलचस्प घटना का उल्लेख लेखक ने पुस्तक के शुरू में किया भी है।

भारत की देशीय वैज्ञानिक चेतना के पैरोकार तथा अन्वेषक गुणाकर मुले ने गहन अध्यवसाय तथा शोध के बाद भास्कराचार्य के जीवन, व्यक्तित्व तथा कृतित्व से सम्बन्धित कुछ दुर्लभ तथ्यों की खोज कर इस पुस्तक की रचना की, और गणित के क्षेत्र में सदियों पहले किए गए उनके कार्यों को सरल सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है।

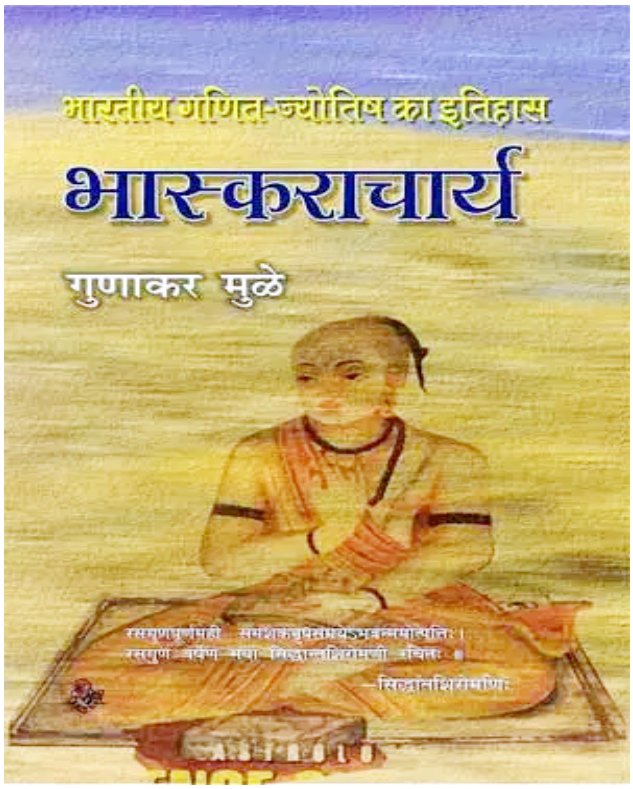

भास्कराचार्य ने अपने पिता महेश्वर से गणित, खगोल विज्ञान तथा ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की थी। शुरुआती शिक्षा ग्रहण करने के बाद वह इसी कार्य में अग्रसर रहे। अपने पिता के नक्शेकदम पर चलते हुए वह भी एक प्रसिद्ध गणितज्ञ और खगोलविद् बन गये और उज्जैन में खगोलीय वेधशाला के प्रमुख के रूप में विख्यात भारतीय गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त का वंशानुगत उत्तराधिकारी माना गया। उज्जैन की यह वेधशाला (जंतर–मंतर) उस काल में भारत की सबसे बड़ी वेधशाला थी। भास्कराचार्य ने अपनी उम्र के 36 वें वर्ष में सिद्धांत शिरोमणि नामक गणितीय ग्रन्थ की रचना की। इसमें उन्होंने गणित की बहुत सारी शाखाओं का आधारभूत ज्ञान व सूत्रों का प्रतिपादन किया है। इसके बाद उन्होंने करण कुतूहल लिखा। भास्कराचार्य का प्रमुख कार्य ग्रंथ सिद्धान्त शिरोमणि था, जिसे आगे चार भागों में विभाजित किया गया था, जिनमें से प्रत्येक अंकगणित, बीजगणित, कलन, त्रिकोणमिति और खगोल विज्ञान पर विविध विषयों से सम्बन्धित था। इन्होंने गणित तथा ज्योतिषशास्त्र पर सिद्धान्तर शिरोमणि, करण कुतूहल, वासनाकाष्यप, बीजगणित, सर्वतो भद्र ग्रंथों की भी रचना की है। उन्हें कैलकुलस के क्षेत्र में अग्रणी माना जाता है। क्योंकि यह संभव है कि वे अंतर गुणांक और अंतर कैलकुलस की कल्पना करने वाले पहले व्यक्ति थे।

भास्कराचार्य ने संभवतः अपनी पुत्री लीलावती के नाम पर ही गणित की एक पुस्तक का नाम लीलावती रखा था जिसमें उन्होंने गणित की शाखा अंकगणित को समझाया है। मुख्यतः इसमें परिभाषाएँ, अंक गणितीय सूत्र, ब्याज गणना, ज्यामिति आरोहण, तलीय ज्यामिति, ठोस ज्यामिति, अनिश्चित समीकरणों के हल निकालना, व कई तरह के सिद्धांत इत्यादि को सम्मिलित किया गया है। उन्होंने कई खगोलीय मात्राओं को सटीक रूप से परिभाषित किया था। जिसमें वर्ष की लंबाई भी शामिल थी। एक उत्कृष्ट गणितज्ञ होने के साथ ही उन्होंने अंतर गणनाओं के सिद्धांतों की महत्वपूर्ण खोज की। यह माना जाता है कि भास्कराचार्य अंतर गुणांक और अंतर गणना की कल्पना करने वाले पहले व्यक्ति थे। उन्होंने दशमलव संख्या प्रणाली के पूर्ण और व्यवस्थित उपयोग के साथ पहला काम लिखा और अन्य गणितीय तकनीकों और ग्रहों की स्थिति, संयोजन, ग्रहण, ब्रह्मांड विज्ञान, और भूगोल के अपने खगोलीय टिप्पणियों पर भी बड़े पैमाने पर लिखा। इसके अलावा, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मगुप्त के काम में कई अंतराल भी भरे।

गणित और खगोल विज्ञान में उनके अमूल्य योगदान की मान्यता में, उन्हें मध्यकालीन भारत का सबसे महान गणितज्ञ कहा गया है। भास्कराचार्य ने सातवीं शताब्दी के ब्रह्मगुप्त के खगोल विज्ञान मॉडल को प्रयोग में लेते हुए, सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के एक चक्कर लगाने में लगे समय की गणना की। जिसके अनुसार पृथ्वी को एक चक्कर लगाने में 365.2588 दिन लगते हैं। वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार यह समय 365.2563 दिन है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com